विराज-साहित्य—५

अरुणोदय

विराज

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क : दिल्ली

विराज-साहित्य

पहला भाग	वसन्त के फूल	(काव्य)
दूसरा भाग	असिधारा	(कथा)
तीसरा भाग	वनराज के राज में	(वनभ्रमण)
चौथा भाग	हर की पैड़ी	(काव्य)
पाँचवाँ भाग	अरुणोदय	(काव्य)
छठा भाग	नया आलोक : नई छाया	(कथा)
सातवाँ भाग	तिरंगा झंडा	(एकांका)
आठवाँ भाग	सम्राट् विक्रमादित्य	(नाटक)

प्रथम संस्करण
जून १९६१

कीमत : चार रुपये

चित्रांकन : ज्ञानचन्द्र गुप्त
आवरण : रिफौर्मा स्टुडियो

मुद्रक
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफरिन पुल, दिल्ली

भूमिका

काली रात छाई थी—मेरे जीवन मे और मेरे राष्ट्र के जीवन मे। यह रात कितनी भयावह और निष्ठुर थी, इसका वास्तविक अनुभव आज होता है, जब कि वह बीत चुकी है। उसकी स्मृति भी रोमांचकारी है !

सब ओर अँधेरा था। कहाँ जाऊ, क्या करूँ, कुछ सूझता ही नही था। वे निष्क्रियता और अकर्मण्यता के क्षण जीवन के भार बन गये। प्रगति और उन्नति का प्रश्न तो दूर, यही सन्देह होने लगा कि इन भयानक परिस्थितियो मे जीवन को बनाये रखना भी सम्भव होगा या नही।

यह विश्व तब भी अब जैसा ही रंगीनियों से भरा था; तब भी राज-महल ऐश्वर्य की किलकारियों से गूंजते थे; तब भी बलशालिनी सेनाएं विजय-प्रयाण करती थी; तब भी प्रकृति को मानव के वशवर्ती बनाने के प्रयास चलते थे; पर वे रंग रात्रि के अन्धकार के कारण मेरी आँखों से, मेरे राष्ट्र की आँखो से ओझल हो गये थे। एक उदास अन्धकार, एक अप्रिय विषाद ही मेरे मानस को, मेरी जाति के मानस को अभिभूत किये हुए था।

उस परवश बना देने वाली तिमिरा मे अनुभव होती थी अपनी असहायता और असमर्थता; अनुभव होती थी शोषण की चुभन और जलन। असमर्थ का आक्रोश छाती में घुट-घुटकर रह जाता था। मन की बात खुलकर कह सकने का भी तो साहस नही था। साहसी के लिए दमन और दण्ड उद्यत थे। निरुपाय एक अचेतना रोम-रोम को जड़

करती हुई व्याप गई। आत्महीनता की ग्लानि हृदय में आकण्ठ भर उठी।

उस समय तो उस निबिड तमोराशि का न कोई पार दीखता था, न कहीं अन्त। परन्तु वह केवल आतंकित मन की भ्रान्ति सिद्ध हुई। बिना किसी प्रयास के, केवल काल के प्रवाह में उदयाचल पर अरुणोदय की किरणें दिखाई पड़ी, मुझे और मेरे राष्ट्र को। उस क्षण का उल्लास अवर्णनीय है। एक ओर जहाँ अपनी चरम दुर्दशा दृष्टिगोचर हुई, वहाँ दूसरी ओर सफलता के मंदिर की ओर जाने वाला मार्ग भी दूर-दूर तक दिखलाई पड़ने लगा।

बाधाएँ अनगिनत थी। पर वाधाओं से घबराना मैंने सीखा ही नहीं, न मेरे राष्ट्र ने। अभाव केवल तन को दुर्बल कर पाये थे, मन को नहीं। कदम के बाद कदम, संभल-सभल कर, धीरे-धीरे यात्रा प्रारम्भ हुई। आगे बढ़ सकने की छूट से बढ़ कर संसार में आनन्द कुछ नहीं है।

अब इस प्रभात के आलोक में मुझे इस रंगीन संसार के रंग दिखाई पडने लगे। खिले हुए फूल और गीत गाते हुए पंछियों ने विश्व को उत्सव मंच सा बनाया हुआ था। मेरी उमंगे भी उच्छ्ृंखल हो उठीं। मेरे लघु पंख असीम आकाश को नापने के लिए अधीर हो उठे।

तब मैंने देखा कि विधाता ने तो ससार को वैभवपूर्ण रचा था, पर मनुष्य ने अपनी छल बुद्धि से वैभव को कुछ स्थानों पर समेट कर अधिकांश जगत् को अभाव और दारिद्र्य का नृत्य-स्थल बना दिया है। शोषण के दुश्चक्र ने सोख लिया है नसों का खून, सुखा दिया है हड्डियों पर का मांस और उड़ा दिया है गालो पर का रंग। क्षुधा और दीनता से पीड़ित कंकाल अपने आप में मनुष्यता को संजोये न रख पाये। कुछ लोगों के अवमानवीय कृत्यों ने शेष को अमानव बनने को विवश कर दिया।

यह सब जब तक नही दीखता था, सह्य था। पर आँख खुल जाने पर इसे सह पाना किसी नितान्त असहाय के लिए ही सम्भव है; नई चेतना और उद्दाम यौवन से भरे बलिदानी के लिए तो कदापि नहीं।

इस असह्य स्थिति को बदल डालने का लक्ष्य बहुत बड़ा और दुष्प्राप्य है। सारे जीवन भर जुटे रहने पर भी शायद यह काम पूरा न हो पाये। पर इस कारण लक्ष्य को नीचे नही गिराया जा सकता। जिसे असम्भव समझा जाता हो, उसी को कर दिखाने में तो शौर्य है।

जो लक्ष्य मैंने, और मेरे राष्ट्र ने चुना है, उसे पराक्रम द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता। दूसरो का खून चूसने का जो घोर अन्याय अज्ञान के अन्धकार मे पनपता रहा, उसका निराकरण कुछ अन्य लोगो का खून बहाकर उतना भली प्रकार नहीं हो सकता, जितना कि अपना स्वेद बहा कर। इतिहास ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि पराक्रम सदा मानवीय समस्याओं को हल करने में असफल रहा है। उन्नति का मार्ग श्रम है, अनवरत और सचेत श्रम।

कालक्रम मे मानव के अभ्युदय और नि.श्रेयस के लिए विविध प्रकार के धर्मों का आविष्कार होता रहा है। किसी दिन का धर्म 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जेता वा भोक्ष्यसे महीम्' था; फिर किसी दिन 'कामये दु:खतप्तानां प्राणिना आर्तिनाशनम्' धर्म हो गया; परन्तु आज का धर्म है—'विना श्रमं नैव भोक्ष्ये कदाचित्।'

दीर्घ काल से क्षुद्र समझे जाने वाले इस श्रम को गौरव का बाना पहनाया जाना है। इसके बिना दूसरे के श्रम पर विश्राम करने की प्रवृत्ति, जो सारे पाप की जड़ है, रुक न सकेगी। 'अथ केन प्रयुक्तोय पापं चरति पूरुष:' का आज तो यही उत्तर है—'विना श्रमेण कौन्तेय, भोगानामस-दिच्छया।' बिना श्रम किये उपभोग की लालसा ही तो सारे शोषण का मूल है। श्रम के गौरव की स्थापना शोषण के दुश्चक्र को तोड़ने का मन्त्र है।

शोषण कोई नई वस्तु नही। सब देशों और सब कालों में समर्थ असमर्थों का शोषण करते रहे हैं; शायद भविष्य में भी करते रहेगे। परन्तु शोषण के विरुद्ध विद्रोह की आवाज भी लगभग सदा ही उठती रही है। जब तक शोषण का अस्तित्व है, तब तक इस विद्रोही स्वर का

मूक हो जाना मानवता के सत्पक्ष की बड़ी कलंकपूर्ण पराजय होगी। कम से कम आज नवजागरण के क्षण में, उन्नति के पथ पर अग्रसर होते हुए तो मेरा—और मेरे राष्ट्र का—विश्व के शोषकों का विरोधी और विश्व के शोषितों का समर्थक यह स्वर मूक नहीं होगा।

साहित्य मन्दिर
दिल्ली

—विराज

एक

उदयगिरि पर फैला आलोक,
खुले प्राची के स्वर्णिम द्वार,
उषा की नवल छटा में स्नात
लगा हँसने जगता संसार;
उठीं वे तरु-शाखाएं झूम,
लगा बहने वासन्ती वात,
गई भर मुझमें नई उमंग,
उड़ूँगा अब मैं पंख पसार।
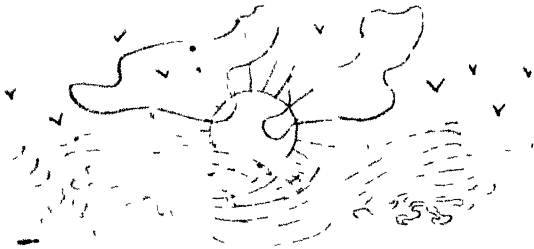
दो

निशा का सघन तिमिर का पुंज
कि जिससे दृग थे ज्योतिर्हीन
नवल रवि किरणों का पा स्पर्श
हुआ जाता स्वयमेव बिलीन;
उधर वह दूर क्षितिज के पास
उठी है अरुणिम आभा फूट;
बिखरता है नूतन आलोक,
निखरता है वह मार्ग नवीन।

तीन

रहा मैं सोता पड़ा अचेत,
गया कितना लम्बा युग बीत;
गया मैं कठिन सत्य को भूल,
रहा सुनता सपनों के गीत;
खुली अब आखिर मेरी आंख,
रहा मै जग को, निज को देख;
मुझे अब जगने के उपरान्त
असम्भव कोई पाये जीत।

चार

अँधेरा था कैसा घन घुप्प !
किसी ने दी ज्यों स्याही पोत;
छिपे तारे घन - माला बीच,
न दिखता तक कोई खद्योत;
बुझे धरती के सारे दीप,
न कोई भी प्रकाश की रेख,
पड़ा था जैसे बरबस फूट
कहीं से आशंका का स्रोत ।

पांच

डराती थी छाया हर एक,
न होता स्थिति का कुछ आभास;
धड़कता था कातर हृत्पिंड,
लुप्त था सकल आत्म-विश्वास;
निकलने की बाहर क्या बात,
खोलना भी था दूभर द्वार;
पराया सा लगता था भीति-
जनक अपना ही श्वासोच्छ्वास।

छह

बढ़ाऊँ पग कैसे किस ओर ?
न जाने गड्ढे में पड़ जाय,
न जाने कौन विषैला शूल
अचानक एड़ी में गड़ जाय,
न जाने कहाँ पड़ा हो साँप,
न जाने कहाँ खड़ा हो बाघ,
जिधर भी चलूँ उधर ही मौत
सामने आ शायद अड़ जाय।

रात

तिमिर का था कैसा साम्राज्य
कि थीं जन-जन की आँखें बन्द;
जुएं, मच्छर और खटमल क्षुद्र
चूसते थे लोहू स्वच्छन्द;
गरजते थे चीते औ बाघ,
लूटते थे डाकू औ चोर;
दुखी थे सीधे सच्चे लोग,
कुटिल कपटी करते आनन्द।

आठ
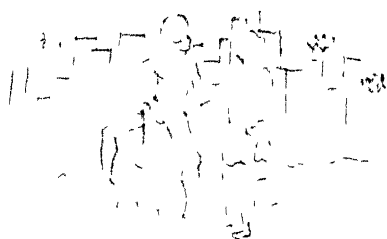
बुझाये पहले सारे दीप
लूटने को दुनियाँ का कोष;
नींद का मीठा जादू मार
दिया कर फिर सब को बेहोश;
सभी की ली आजादी छीन,
सभी को बना दिया कंगाल,
सभी का चूसा जी भर खून,
रही दुनियाँ फिर भी खामोश।

नौ

खुली भी अगर किसी की नींद
रहा लेटा चुप्पी ही साध;
मचाना 'चोर चोर' का शोर
बहुत भारी होता अपराध;
जागते या न जागते लोग
मगर उसका सिर जाता फूट;
लुटेरे थे निष्ठुर कटिबद्ध
कि लूटेंगे जग पूर्ण अबाध।

८१।

तिमिर के छाने की थी देर
गई हो सारी दुनियाँ म्लान;
गये छिप फूलों के सब रंग,
गया रुँध विहगों का कल गान;
गई पत्ती पत्ती में व्याप
कालिमा घिर कर चारों ओर;
लगा लगने निर्जीव श्मशान
साँझ तक था जो क्रीडोद्यान।
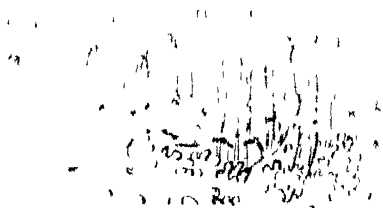
ग्यारह

अभावों की कटुता की क्रूर
घिरी है काली रात कठोर;
सूझना जिससे सब कुछ बन्द,
निराशा छाई है सब ओर;
पड़ा है पीड़ित जन समुदाय,
नींद में मानों रहा कराह—
मुझे इस तिमिर-पुंज से दूर
चलो ले अरुणोदय की ओर,
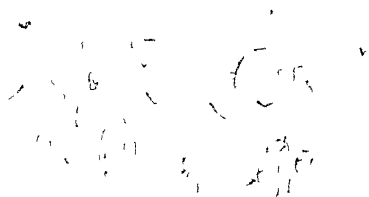
जहाँ है आलोकित आकाश,
जहाँ धरती का पुष्पित हास,
जहाँ है पवन सुवासित और
ओस से भीगी भीगी घास,
जहाँ है चपल स्फूर्ति से देह,
जहाँ है तरल स्नेह से चित्त,
जहाँ है अधरों पर मुस्कान,
जहाँ है आँखों में उल्लास।
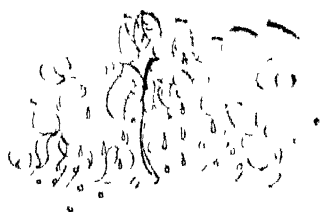
तेरह

निशा की काली चादर दीर्घ
किसी ने ली चुपचाप समेट;
दमकते मोती से द्युतिमान
रखे तारादल कहीं लपेट;
गया खुल पूर्व दिशा में एक
सुनहले गिरि-कन्दर का द्वार;
अंधेरे पर झपटा दिनराज
सिंह सा करने को आखेट।

चौदह

चलाकर किरणों की तलवार
सूर्य ने दिया तिमिर को मार;
रही रँग उदयाचल को लाल
उसी के गरम लहू की धार;
अँधेरे में थे जो स्वच्छन्द
न चलने पायेंगे अब पाप;
ज्योति का नूतन पा आभास
रहा है खोल नयन संसार।
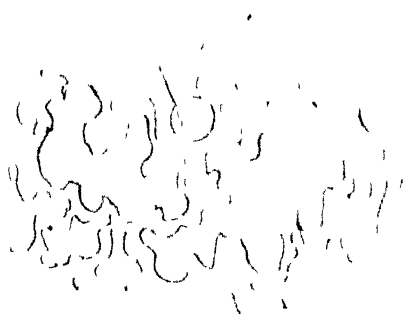
पड़ा झूठे स्वप्नों में मग्न
अभी निद्रित ही था संसार
कि नभ में अरुण क्रान्ति को देख
उठे मिल वन के विहग पुकार;
उठा फिर दौड़ प्रभाती वायु
जगाता हर तरु का हर पात;
उदयगिरि के शिखरों पर फूट
पड़ी फिर स्वर्ण प्रभा की धार।
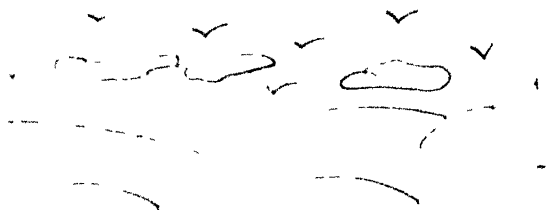
सोलह

पूर्व में रवि किरणों की ज्योति
उठे बस हुई तनिक सी देर,
इधर लगता वसुधा पर स्वर्ण
किसी ने मानों दिया बखेर;
गये खुल मुँदे रात भर नेत्र,
उठे खिल डाल डाल पर फूल;
किसी ने मलिन विश्व पर एक
सुनहली कूची सी दी फेर।
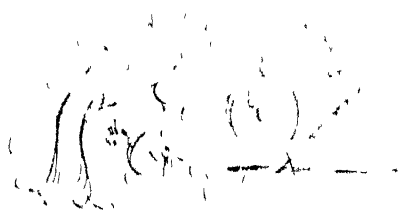
सत्रह

चला जब सुखद प्रभाती वायु
उठा जैसे सारा जग डोल;
उठी जड़ जंगम सब में एक
सबल नव जीवन की कल्लोल;
रहे थे मुकुलित सारी रात
देखते रवि-किरणों के स्वप्न
श्रवण कर खग-चारण का गीत
प्रसूनों ने दी आँखें खोल।

अठारह

और देखो जादू का खेल !
वही मेघों के खंड विशाल,
गगन पर जो छाये थे रात
बढ़ाते सघन तिमिर विकराल,
निशा के क्रूर राज्य के स्तम्भ;
देख अब अरुणोदय का काल
पलट कर अवसर के अनुकूल
उठे हो सबसे पहले लाल।
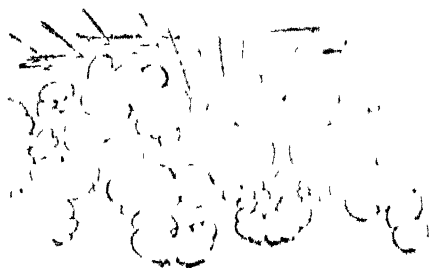
उन्नीस

खचित-मुक्तामणि नीलम-नील
दिया प्राची ने घूँघट खोल;
तभी कर सन्नाटा शतखण्ड
उठा वह कहीं अरुणशिख बोल;
कहीं से आई एक प्रचण्ड
चेतना की दुर्वार तरंग;
उठा सारा निद्रित जग जाग
कि आया ज्यों भीषण भूडोल।

ग्रीष्म

भरा है फूलों से हर वृन्त,
दिया ज्यों उपवन रँग से लीप;
हजारों नीले, पीले, लाल
सैकड़ों सित, जैसे हो सीप,
गुलाबी, उजले, सुरभित फूल
रहे हैं खिल इस भाँति समोद,
मनाती प्रकृति दिवाली ज्यों कि
जला कर रंग बिरंगे दीप।

इक्कीस

इधर देखो उपवन की ओर,
मची है फूलों की रँगरेल;
मिले हैं आ वृन्तों पर आज
प्रकृति के रँग सारे बेमेल;
कहीं पर बिखर पड़ा है रंग,
कहीं पर उठती गंध फुहार;
रहा है मानों तरुण वसन्त
विपिन-शोभा से होली खेल।

बाईस

उधर जो देखूं वन की ओर
भरा है कन कन में उल्लास;
रहे कर नव तरु-पल्लव नृत्य,
मुदित मुस्काती हरियल घास,
लताएं रहीं हिंडोले झूल,
सुनाती कोयल सुमधुर गीत,
तितलियों की टोली ज्यों रास
रचाती आ फूलों के पास।

तेईस

उठे हैं पौधों के सब वृन्त
लिये विकसित सुमनों का भार
घास के दल, बेलों के पात
खड़े ले मुक्तामणि उपहार;
अलक्षित ही सब ओर असंख्य
रहे हैं गन्ध-फुहारे छूट
रहो कर वन-शोभा सोल्लास
दिवाकर का मानों सत्कार ।
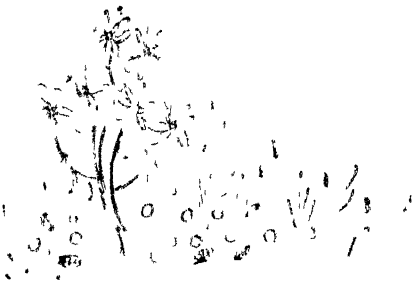
चौबीस

बिछा है मरकत का कालीन,
तना नीलम का नील वितान,
टंगे पादप वृन्तों पर लाल,
लताओं में हीरक द्युतिमान,
रखे पत्तों पर मोती शुभ्र,
रहा सज स्वागत साज अपूर्व,
अभी आने वाला है शीघ्र
यहाँ कोई सम्राट महान ।
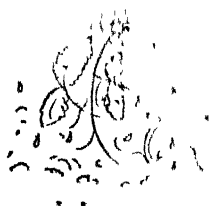
पच्चीस

अरे पतझर के उन निष्प्राण
क्षणों को अब तुम जाओ भूल,
न थे जिनमें डालों पर पात,
न थे जिनमें वृन्तों पर फूल;
आज तो परिणत हुआ वसन्त;
फलों का लेकर सुमधुर भार
रहीं वन-उपवन में सब ओर
विटप शाखाएं झूले झूल।
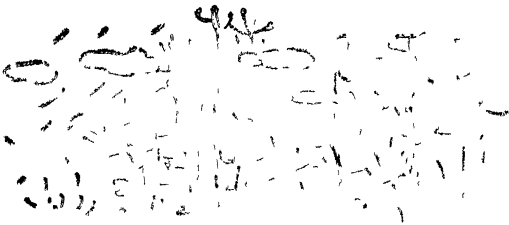
छब्बीस

छोड़कर तिनकों का निज नीड़
विहग आ बैठा तरु की डाल;
रही है कर सा कुछ संकेत
उधर से उठती किरणें लाल;
त्याग कर डाली का भी मोह
गगन में करना है प्रस्थान;
परखना है उसके लघु पंख
सकेंगे क्या नभ नाप विशाल।

सत्ताईस

तभी लेकर अँगड़ाई एक
उठे यात्री सब शय्या छोड़;
पहुँचता सबसे पहले कौन,
लगी उनमें आपस में होड़;
लक्ष्य है कहाँ, किधर, किस ओर
अधूरा-सा ही सबको ज्ञात;
बना लेंगे पर अपनी राह
राह की चट्टानों को तोड़।
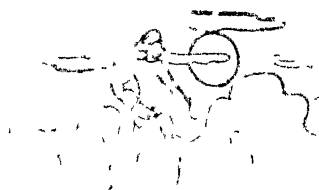
अट्ठाईस

श्रेष्ठ हैं ये वसुधा के रत्न !
भरा इनमें यौवन उद्दाम;
बढ़ें यदि ये कुछ मन में ठान
न जग में मुश्किल कोई काम;
त्याग कर एक बार आलस्य
अगर ये कर दें आगे कूच,
न इनको कोई सकता रोक,
न कोई इनको सकता थाम।

उनतीस

जगाया करके निद्रा भंग,
दिखाया आगे पथ अभिराम,
मुझे जिस अरुणोदय ने लाल,
उसे करके शत नम्र प्रणाम
पड़ा हूँ निकल राह पर आज;
रुकेंगे तभी कहीं ये पैर
कहेगी जब मंजिल स्वयमेव
कि अब तू कर सकता विश्राम ।

तीन
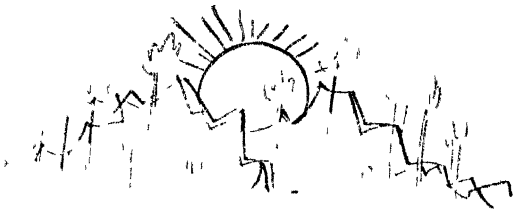
गँवाया नादानी से जो कि
न उसकी चिन्ता मुझको आज;
बनाने को मैं तो कटिबद्ध
नया आगामी कल का राज;
कहाँ मुझको इतना अवकाश
रहूँ जो करता पश्चात्ताप !
अभी है मुझमें इतनी शक्ति
कि मैं फिर बन सकता अधिराज।

इकत्तीस

जानकर मैने अपने आप
रखी है अपनी मंजिल दूर;
पहुँचने में मंजिल तक और
भले हो जाऊँ थककर चूर,
वही पर करना मुझको काम
न जिसको और सकें भी सोच;
असम्भव को सम्भव कर जाय
वही तो कहलाता है शूर।

बत्तीस

अरे उठ साथी, सुन उस ओर
रहा आन्दोलित सिन्धु पुकार;
विकट लहरें आ तट की ओर
रही हैं हमको ज्यों ललकार;
थपेड़ों में आंधी के क्रुद्ध
काँपती दीपशिखा सी नाव;
फड़कते मेरे भुजयुग किन्तु
कि हम जायेंगे इससे पार।

तेंतीस

जहाँ तक भी जाती है दृष्टि
दीख पड़ता मरुथल वीरान,
न कोई खग, मृग दिखता और
न तरु तृण तक का नाम निशान,
न जल की दूर कहीं तक बूँद,
जागता पर मुझमें संकल्प—
यहीं पर मैं रम जाऊँ और
यहीं फिर खिले नये उद्यान।

चौंतीस

वहाँ पर दूर क्षितिज के पास
रही उठ आँधी काली घोर,
कँपाता वन वनान्त को और
सुनाई पड़ता उसका शोर;
भयातुर सब जड़-जंगम; किन्तु
उमँगते मेरे पंख अधीर
कि चलकर इस आँधी के पास
जरा मैं भी अज़मा लूँ जोर।

पैंतीस

मुझे कल तक थी जग पर खीझ,
आज पर मुझको जग से प्यार;
सभी इसकी त्रुटियाँ औ दोष
क्षमा करने को मैं तैयार;
मुझे रहना है इसमें; और
चुकूँगा जब मैं इसको जीत
भले हो यह जैसा कुछ, ठीक;
इसे मैं लूँगा स्वयं सँवार।

छत्तीस

वहाँ तक निष्कंटक है राह
सामने दीख रहा जो मोड़;
कौन से संकट उसके पार,
चुका मैं चिन्ता इसकी छोड़;
डराओ मत मुझको ओ मित्र,
बढ़ाओ तो मेरा उत्साह
और फिर देखो मैं किस भाँति
विपद से ले सकता हूँ होड़!

सैंतीस

रहा मैं इतनी देर अचेत,
गयी हो सारी दूर थकान,
गया भर मुझमें ताज़ा खून,
गयी आ मुझमें नूतन जान;
और अब शुभ प्रस्थान मुहूर्त;
रही है मंज़िल मुझे पुकार;
पहुँचना उस तक मुझे ज़रूर
धूल सब बीहड़ पथ की छान।

अड़तीस

अँधेरा था काला सब ओर,
जमा दे लोहू ऐसा शीत !
निशा के वे लम्बे निष्कर्म
प्रहर भी गये अन्त में बीत;
उदयगिरि की चोटी से सूर्य
रहा निज किरणें अरुण बखेर,
मुझे ज्यों देता हो आशीष—
बढ़ा चल, तेरी होगी जीत ।

उनतालीस

न पालो सुन्दरि, मुझसे मोह
मुझे जाना है आगे दूर;
यहीं पर रुक मैं जाऊँ बैठ
न मुझको किसी तरह मंजूर;
बनो मत पैरों की जंज़ीर,
अगर, हाँ, चल सकती हो साथ,
चलो फिर बनकर मेरी शक्ति,
निभेगा तब यह साथ जरूर।

चालीस

निशा के सघन तिमिर में मूढ़
पकड़ कर मैं यमपुर की राह
दौड़ता था आगे अविराम;
दृगों से झरता अश्रु प्रवाह,
प्रलय के सुन पड़ते थे शंख,
कि सहसा तुमने आ छू बाँह
कहा 'रुक जाओ, लौटो;' और
जगाया जीने का उत्साह।

इकतालीस

खिले गालों में लाल गुलाब,
अधर युग में ज्योत्स्ना छविमान,
सुकोमल नव पल्लव से ओठ
लुटाते धवल अरुण मुस्कान,
सुरीला ऐसा मादक कंठ
बजे ज्यों वीणा संग मृदंग;
ध्यान रख मेरी रुचि प्रत्येक
तुम्हारा, प्रिये, हुआ निर्माण।
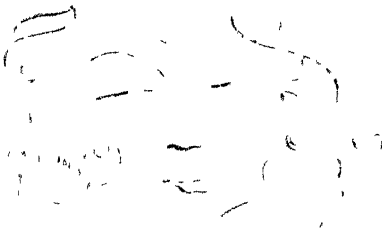
बयालीस

तुम्हें देखू तो आते याद
सुगन्धित फूलों के उद्यान
जहाँ बिखरे पड़ते हैं रंग;
तुम्हारी देख सरल मुस्कान
याद आती गंगा की धार
चांदनी में करती सी स्नान;
मधुर स्वर सुन हो आता याद
विहंगों का अरुणोदय गान।

त्रेतालीस
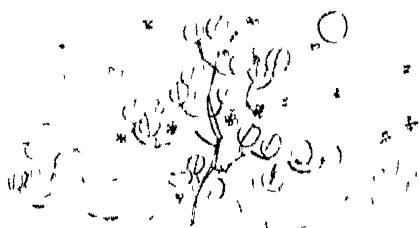
रहो तुम साथ, मुझे सब शूल
स्वयं बन जायेंगे बन-फूल;
रहो तुम साथ, मुझे यह धूल
लगेगी सारे सुख की मूल;
रहो तुम साथ, नरक के कुंड
लगेंगे मुझे स्वर्ग-उद्यान;
तुम्हारे साथ, मरुस्थल तप्त
लगेगा शीतल गंगा-कूल।

चवालीस

चलो खेलेंगे होली आज,
गुलाबी जल में घोलो रंग;
छुटें फिर पिचकारी की धार
भिगोती सभी अंग प्रत्यंग;
न कोई रहे अछूता गाल,
न कोई रहे वस्त्र नीरंग;
नियम कर सारे आज अमान्य
मचायेंगे जी भर हुड़दंग।

पैंतालीस

बहुत दिन देखा हो कर मुग्ध,
किया है कुछ दिन मधुरालाप,
मान कर पर नैतिक प्रतिबंध
उसे छूना भी समझा पाप;
न लेकिन अब चूकूँगा; और
आज तो अवसर है अनुकूल,
कपोलों पर उसके अरुणाभ
लगा दूंगा ओठों की छाप।

छियालीस

देखने को छोटा-सा देह,
भरी पर इसमें शक्ति अपार;
सूर्य से बढ़कर इसमें तेज,
धरा से बढ़कर इसमें सार;
अगर यह दक्षिण को मुड़ जाय
सजा दे यहीं स्वर्ग का साज,
पकड़ ले कहीं वाम पथ किन्तु
विश्व का कर दे उपसंहार।

सैंतालीस

मुझे निज निर्बलता का ज्ञान,
लक्ष्य की दुर्लभता भी ज्ञात;
पुरुष हो लेकिन यदि कटिबद्ध
न सम्भव, कहो, कौन सी बात;
गगन के सकता तारे तोड़,
सुखा सकता सागर का नीर,
धरा को कर सकता वह चूर,
कुपित होकर यदि मारे लात।
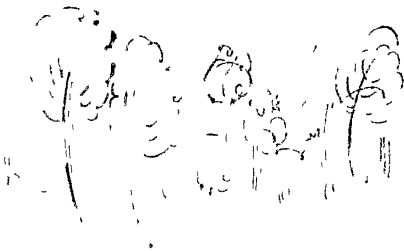
अड़तालीस

मिला है जो मुझको संसार
अभी हैं इसमें अगणित दोष;
उन्हें मैं सकता किन्तु सुधार
भरा है मुझमें इतना जोश;
अविकसित का कर सकूँ विकास,
दिखाऊँ भटके को सन्मार्ग,
पतित का कर पाऊँ उद्धार,
तभी तो हो मुझको सन्तोष।

उनंचास

कहा किसने, तू है बलहीन ?
न तुझसे बढ़ कोई बलवान;
सहोदर थे तेरे वे वीर
जिन्होंने जीता जगत जहान;
अगर तू चले रौंदने विश्व
असम्भव, कोई पाये रोक,
खड़ा तो हो उठ कर तू और
ज़रा निज क्षमता को पहचान।

पचास

अँधेरे मे भटका चिरकाल
शीश पर लिये निराशा भार;
खुले दीखे इतने दिन बाद
सफलता के मन्दिर के द्वार;
कठिन है पथ, बाधाएं लाख,
दीखती तो है लेकिन राह;
रुकूं यदि पथ को दुर्गम देख
तपस्या को मेरी धिक्कार!
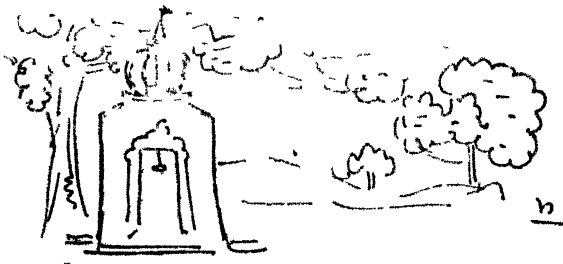
इक्यावन

मुँदे थे अब तक मेरे नेत्र,
छिपी थी अन्धकार में राह,
भरा था अंगों में आलस्य,
न थी हिलने-डुलने की चाह;
अभी पर पौ फटने के साथ
उठा है जग मन में उत्साह
कि मैं नापूँ अम्बर के छोर,
कि मैं लूँ सागर तल की थाह।

बावन

मुझे कुछ ऐसा होता भान
कि मैं ही हूँ वह शक्ति महान
रचा है जिसने यह संसार
चित्त में कुछ कौतुक सा मान;
रहा मैं कर अब भी तो खेल
कभी कुछ जोड़-तोड़ परमाणु;
सृष्टि का कर सकता संहार
भूल से भी यदि लूंगा ठान।
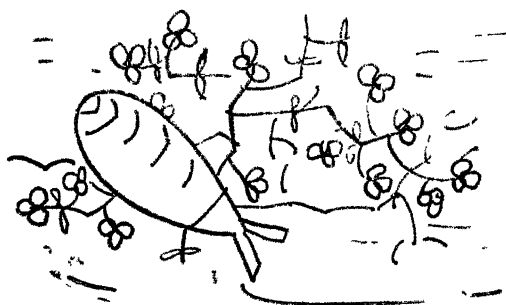
तरेपन

न निकला जिसमें कोई पैठ
मुझे लेनी उस जल की थाह;
रहा जो पर्वत शिखर अजेय
उसी पर चढ़ने का उत्साह;
जिधर भी बने मनुज पद-चिह्न
दिशा ही वह दी मैंने छोड़;
मुझे जाना अनजाने देश,
मुझे चलना अनजाँची राह।

यौवन

उठो माँझी, अब खोलो नाव,
तीर तक भर आया है ज्वार;
तान दो ऊँचे सारे पाल,
सँभालो सावधान पतवार;
डरो मत प्रबल पवन को सोच,
इसी पर होगी नाव सवार,
तरंगों की छोड़ो परवाह,
पहुँचना ही है अब तो पार।

पचपन

इधर का छोड़ दिया है तीर,
उधर का तट अब तक अज्ञात;
जलधि लहरे कर आसव पान
रही हैं कर भीषण उत्पात;
कहा क्या, लौटा लूँ निज नाव ?
अभी तो आयेगा आनन्द,
जरा घिरने दो काले मेघ,
जरा उठने दो झंझा वात।
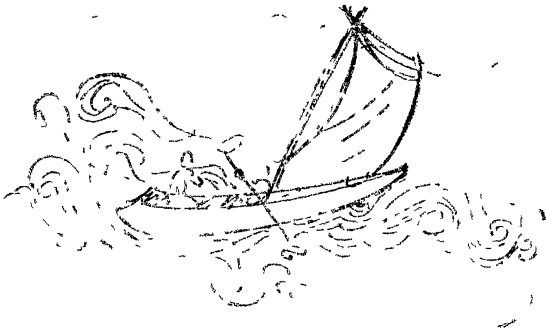
छप्पन

प्रबल बरसाती नद सी पूर्ण
रही बह जीवन-रण की धार;
पड़ा हूँ मैं कर साहस कूद,
सफल हो पहुँचूँ परले पार;
पहुँच पाते हैं परले तीर
हजारों में कोई दो-चार;
न देता रहने तट पर बैठ
मुझे लेकिन मेरा संस्कार।
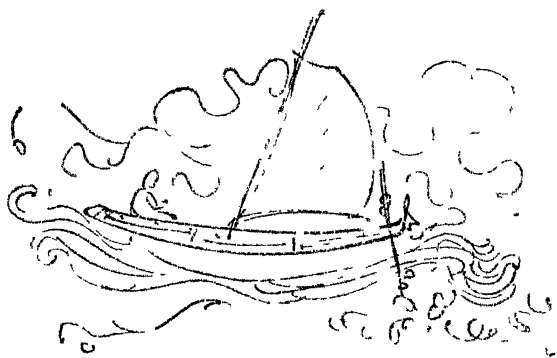
सत्तावन

रहा मैं असफल कितनी बार !
किन्तु कब मैंने मानी हार ?
उठा फिर ले दुगना उत्साह
गिरा जब जब पथ पर लाचार;
गये छिल मेरे दोनों पाँव,
रहा हो जोड़ जोड़ में दर्द;
सफलता, पर, आई है आज
जताने मुझ पर अपना प्यार।

अट्ठावन

अरे यह तो केवल संयोग—
सफलता आई जल्दी पास;
अभी संभव था दसियों साल
न मिलता तक इसका आभास;
मगर मैं भी तो था कटिबद्ध,
रहा था चल कर यह संकल्प—
बढ़ेंगे आगे - आगे पैर
रहेगा चलता जब तक श्वास।

उन्सठ

न समझें, जाने, मानें लोग,
करूँ मैं अपना आप बखान,
न मेरे बस की है यह बात।
बताने को अपनी पहचान
पडा मै तो ज्वाला मे कूद;
जगत ले खुद आँखों से देख
कि मै हूँ कच्चा खोटा रांग,
कि या सच्चा कंचन द्युतिमान।

साठ

रहूँ उड़ता नभ में कौशेय
ध्वजा के उज्वल वस्त्र समान;
चढ़ूँ या मन्दिर में बन फूल
प्रतिष्ठित प्रतिमा पर पा मान;
बनूँ या फिर विजयी सम्राट,
झुकाये सिर सारा संसार;
तभी तक जीने का है चाव
रहे जब तक अक्षत अभिमान।

इकसठ

रहे युग-युग के धर्म अनेक,
आज का है श्रम धर्म महान;
न श्रम से बढ़ कर कोई शक्ति,
न श्रम से बढ़ कोई बलिदान;
लगी है यह मानव के हाथ
चमत्कारी पारसमणि एक,
पड़ी जो मिट्टी को बेकार
बना सकती कंचन द्युतिमान।

बासठ
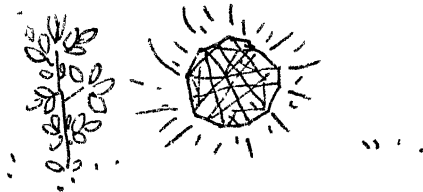
लगी श्रम औ विक्रम में होड़,
देखता विस्मित हो संसार,
सृजन में तत्पर श्रम के हाथ,
रहा विक्रम करता संहार;
समर कितने, कितने युग शान्त,
देख कर मन में उठती बात—
हथौड़े से दुर्बल है तोप,
दराँती से दुर्बल तलवार।
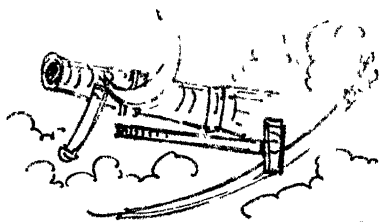
तरेसठ

पराक्रम अवनति का सोपान,
और श्रम सब उन्नति का मूल,
जहाँ लोहू बहता निर्दोष
पनपते वहाँ विषैले शूल;
मगर श्रम का जादू बेजोड़ !
अनुर्वर मरु, बंजर मैदान,
जहाँ भी गिरे स्वेद की बूँद
वहीं पर खिल उठते हैं फूल।
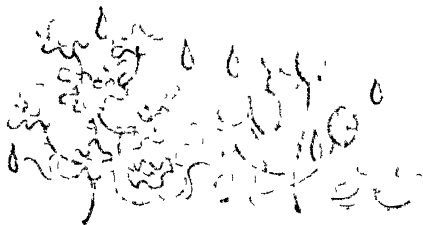
चौसठ

गये है विक्रम के दिन बीत,
रहा है अब श्रम का यश फैल,
दमकते है हल और कुदाल,
गई जम तलवारों पर मैल;
लहू का था रोमांचक रंग,
पसीने में है लेकिन स्वास्थ्य;
सिंह पर होती शक्ति सवार,
किन्तु शिव का वाहन है बैल।

पैंसठ

गरज कर भीषण गोले फेंक
रहीं कर तोपें तोड़म-फोड़;
हथौड़ा पर करता है चोट
कि दे टूटी कड़ियों को जोड़;
काट देती निर्मम तलवार
धार से मानव का प्रत्यंग;
दराँती करती लेकिन काट
जियें जिससे जन लाख-करोड़।
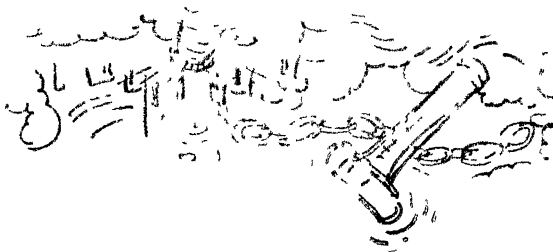
छियासठ

जुटा है मानव दृढ़-संकल्प
काम में अपने श्रम से चूर;
देह से बहती श्रम-जल-धार,
भागतीं डर बाधाएं दूर;
नये युग का यह विश्वामित्र
सृष्टि को देता नूतन रूप;
बनायेगा मिट्टी को स्वर्ण
और कंकड़ को कोहेनूर।

कई आये विजयी सम्राट् !
दिखाने को निज रौद्र प्रताप
उन्होंने उपवन दिये उजाड़;
भूमि पर उतरे बन अभिशाप;
गिराये नगर, जलाये गांव,
बहाया निर्मम हो कर खून;
सृजन पर उनके हो कर खिन्न
विधाता करता पश्चात्ताप ।

अड़सठ

रचे श्रम ने सुन्दर प्रासाद,
रचे श्रम ने वे दुर्ग विशाल;
मगर विक्रम ने हो उन्मत्त
तोड़ सब दिये धरा पर डाल,
हजारों का बरसों का काम
मिला मिट्टी में पल में एक;
बनाने वालों की वह सूझ,
तोड़ने वालों का यह हाल।
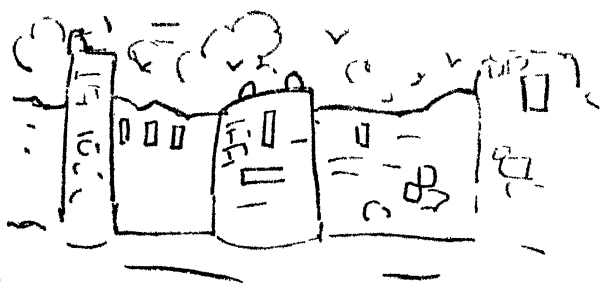
उनहत्तर

चलाई विक्रम ने तलवार,
छातियाँ दीं लाखों की छेद ;
लगाया श्रम ने मरहम और
न जतलाया मुँह से कुछ खेद ;
न मुझको कोई दुविधा आज
कि पूजूं बढ़कर किसके पाँव,
बहाता जो औरों का खून,
बहाता या जो अपना स्वेद ?

सत्तर

न केवल जड़ चीज़ों का रूप
निखारा करता श्रम गुणवान ;
अपितु यह चेतन में भी दिव्य
नई सी भर देता है जान ;
बिलक्षण इन्द्रजाल यह सत्य,
भरी है जिसमें अद्‌भुत शक्ति,
बना दे जो पशु को नर तुल्य,
मनुज को कर दे देव समान ।

इकहत्तर

बड़े बाघों के पंजे, दांत,
फाड़ दें जो आगे आ जाय ;
किन्तु वह भोली - भाली गाय
दूध ही देती है निरुपाय ;
एक से आतंकित संसार,
दूसरी पर ममतामय स्नेह ;
करेंगे शासन चाहे बाघ,
पुजेगी पर दुनियाँ में गाय ।

[illegible]

जरा-सा रेशम का पट-खण्ड
फहरता है धर ध्वज का साज ;
कलश बन पीतल पुजता और
न उसको पुजते आती लाज ;
नींव को लेकिन पूछे कौन
सँभाले जो मन्दिर का भार ?
पुजे ध्वज और कलश चिरकाल
नींव की होगी पूजा आज ।
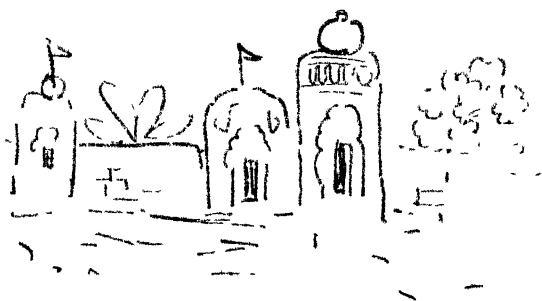
शिकार

किसी दिन डँस सकते हैं साँप,
मार सकते हैं बिच्छू डंक,
फाड़ सकते हैं चीते बाघ,
इसी से है इनका आतंक ;
सभी डर दबकर रहते जीव ;
मगर उस दिन क्या होगा हाल ?
कि जब मानव लेकर बन्दूक
फिरेगा मोटर में निःशंक ।

चौहत्तर

मिला कंचन से बढ़कर रूप,
मिला बिच्छू से बढ़कर डंक,
ततैया जीव-सृष्टि में किन्तु
बना है ज्यों साकार कलंक ;
अलग पर मधुमक्खी की बात !
उसी को सह सकता संसार,
कभी जो दे मधु का भी कोष
जमाये रहे भले आतंक ।
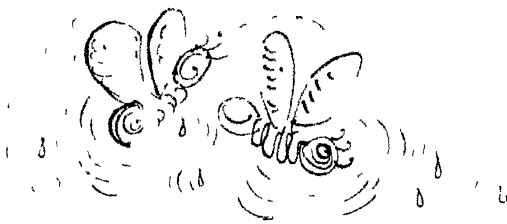
पचहत्तर

मिटानी है भूखों की भूख,
हटाना है रुग्णों का रोग,
घटाना है जग का दारिद्र्य,
जुटाना सबके हित सुख भोग ;
अकेले जन में परिमित शक्ति ;
पूरने को यह लक्ष्य महान
मुझे करना है सबसे प्यार,
मुझे लेना सबका सहयोग।
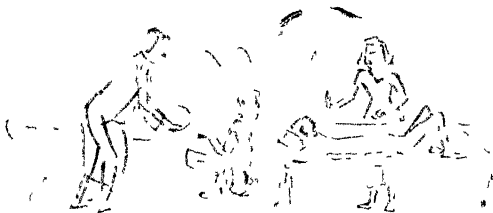
अरे, यह तो मामूली बात
कि जीतूँ जग को लेकर अस्त्र ;
और भी सरल, कि लूँ संन्यास,
अहिंसक बन त्यागूँ सब शस्त्र ;
कठिनतर पर मेरा कर्तव्य—
बना कर निज शोणित को स्वेद
जुटाऊँ भूखों के हित अन्न,
जुटाऊँ नंगों के हित वस्त्र ।

मत्सर

निर्धनों से क्या तेरी होड़ ?
क्योंकि तू तो सच्चा धनवान ;
निर्बलों से क्या तेरा जोड़ ?
क्योंकि तू तो अतिशय बलवान ;
न जिनमें जीने भर की शक्ति,
भला वे क्या कर सकते त्याग ?
जिन्होने पाया है भरपूर
वही तो कर पायेंगे दान ।
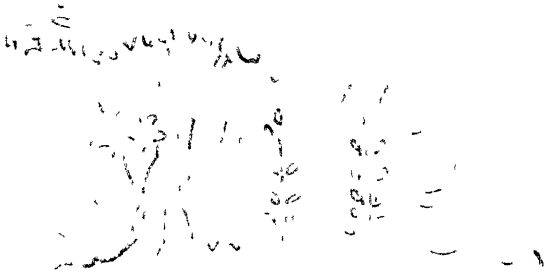
अठत्तर

क्योंकि मैं औरों से धनवान,
क्योंकि मैं औरों से बलवान,
क्योंकि मेरा ऊँचा है लक्ष्य,
और मेरा आदर्श महान,
भोग के अवसर पर है सह्य
कि मैं लूँ सबसे अन्तिम भाग,
प्रथमता का मेरा हक किन्तु
जहाँ पर करना हो बलिदान।
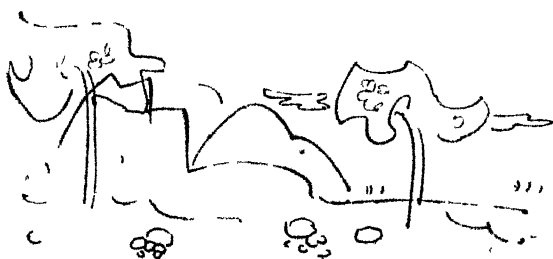
उनासी

अरे तू है वह वीर अजेय
प्रलोभन जिसे न करते स्पर्श ;
न्याय की रक्षा हित निर्भीक
न झिझका तू करते संघर्ष ;
मनुज के गौरव का ध्वज श्रेष्ठ
उठाये तू इस भाँति सगर्व,
कि तेरा दैनन्दिन व्यवहार
बनेगा जग भर का आदर्श।
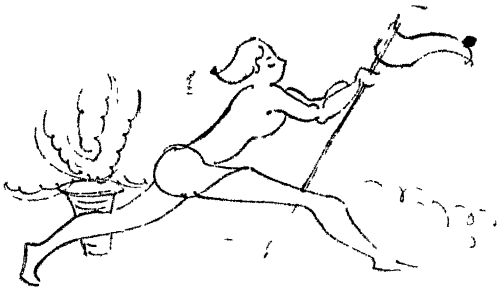
अस्सी

तुझे पाना प्राणों पर खेल
बनाया जो जीवन का ध्येय !
कुचल कर कर बाधाएं चूर,
न रुक, हट, तू है सदा अजेय;
रहें साथी या छूटे साथ,
तुझे होना है सफल अवश्य,
विजय की तेरी गाथा दिव्य
रहेगी युग युगान्त तक गेय।
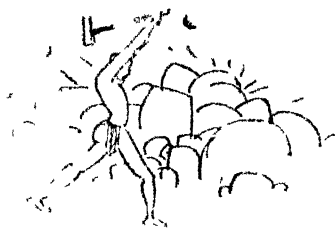
इक्यासी

जुटूँ जीवन भर फिर भी पूर्ण
न हो पाये, है इतना काम;
और मुझमें इतना सामर्थ्य,
न मैं लूँगा थकने का नाम ;
प्रात की इस वेला में दिव्य
सकूँगा मै न निरुद्यम बैठ ;
दिवस भर श्रम के ही उपरान्त
मुझे रुच सकता है विश्राम।

चथासी

रहूँ कैसे बिस्तर पर लेट ?
भरी है अंग - अंग में स्फूर्ति ;
न मुझसे बैठा जाता शान्त,
बना हूँ सक्रियता की मूर्ति ;
रहे है पल तेज़ी से भाग.
मुझे चलना है इनके साथ ;
तभी तो कर पाऊँगा आज
सांझ तक कठिन लक्ष्य की पूर्ति ।

तिरासी

निबल से ले जो सेवा नित्य
भला वह भी कैसा बलवान !
अधन से आकर माँगे भीख
कहेगा कौन उसे धनवान !
बली औ धनी वही, जो अन्य
जनों की कुछ सेवा कर पाय,
रखे जो दीन-दुखी का ध्यान,
वही पुरुषोत्तम है भगवान।

चौरासी

रहे युग - युग ये शोषित दीन
बहाते मूक दृगों से नीर ,
व्यथा की कितनी भीषण छाप
लगी इनके मुख पर गम्भीर ;
पड़े ये इनके पीले गाल
तुझे करने निज श्रम से लाल,
खिलाना इन अधरों पर हास,
बदलनी है इनकी तकदीर ।

पिचासी

यहाँ कितने नर-भक्षक आज
गया लग जिनके मुँह में खून ;
निरन्तर बढ़ती उनकी भूख
न होती तृष्णा तिल भर न्यून ;
उन्हें प्रिय रक्त-मांस का खेल,
मुझे करने को जग का त्राण
तोड़ने है बाघों के दाँत,
काटने चीतों के नाखून ।

छियासी

रचा था ब्रह्मा ने संसार
न सचमुच इतना वैभवहीन
कि हों इसमें इतने कंगाल
दुखी, नंगे, भूखे औ दीन ;
दीखता है लेकिन सब ओर
अभावों का तांडव विकराल,
क्योंकि कुछ नंगों ने बन धींग
लिया हिस्सा औरों का छीन।

रातासी

पड़ी है मुझ पर कितने काल
क्रूर कुदरत-किस्मत की मार !
कभी आँधी, गर्मी, फिर शीत,
कभी फिर वर्षा मूसलधार,
कभी सूखा, बिजली, भूकम्प;
मगर करके संघर्ष अनेक
चुका हूँ मैं कुदरत को जीत,
लड़ूँगा किस्मत से इस बार।
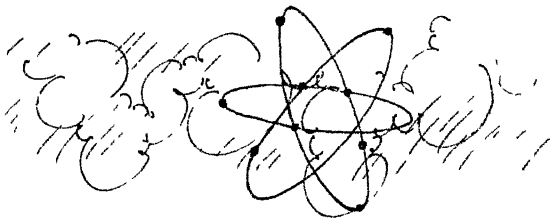
अट्ठासी

बना लोलुप मानव-मन आज
मरुस्थल तरु-तृण-हीन अपार ;
न उसमें कहीं दया की बूँद;
निरन्तर करता अत्याचार
उन्हीं पर, जो रहते हैं साथ ;
खिलाने को दो प्रेम-प्रसून
भगीरथ बन कर मुझको शीघ्र
यहाँ लानी गंगा की धार।

जीतता है क्यों सदा अस

सत्य आखिर क्यों जाता ह

प्रेय के आगे श्रेय परा

पाप से पुण्य न पाता प

रहा चल क्यों यह उलटा

सकेगा चल सीधा किस भ

करूँगा मैं यह अनुस

करूँगा मैं कुछ आविष

नब्बे

गयी थी रह यह सृष्टि अपूर्ण
बना जब इसे चुके भगवान ,
न थे इसमें लहराते खेत,
न थे सुन्दर औ स्वच्छ मकान ;
काट कर वन औ दलदल पाट
बनाई धरती रहने योग्य ,
मनुज के जग के तो, सच बात,
विधाता हैं मजदूर किसान ।

इक्यानवे

भगीरथ है मेरा आदर्श
कि करके जो तप कठिन अपार
अनुर्वर धरा सींचने हेतु
स्वर्ग से लाया गंगाधार ;
आज की क्षुधा, नग्नता, रोग
मिटाने को लेकिन आमूल
मुझे करके श्रम और कठोर
स्वर्ग ही लेना यहाँ उतार।

बानवे

बड़े थे जिनके महल विशाल,
और थी धन सम्पत्ति अथाह,
असीमित थे जिनके अधिकार,
न थी कोई चिन्ता परवाह,
दूसरों के श्रम पर जो भोग
रहे थे यही स्वर्ग के भोग,
काल की करवट में दब आज
रहे मिट राजा, लामा, शाह।

अ

तिरा
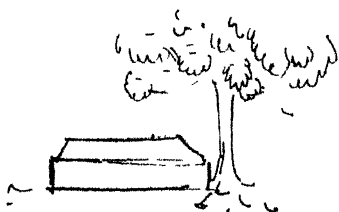
मुझे तो सोच आज आश
न क्यों उनको आती थी ल
निकम्मे जो खाते थे म
बना कर श्रमिकों को मुँहता
न थे वे रण के भी तो शूर
डरौने से थे वे बेजान
रही दुनियाँ डरती बेब
क्योंकि था उनके सिर पर ता

चौरानवे

जिन्होंने कर छल - कपट अनेक
लिये हथिया सत्ता, अधिकार
उन्हीं का 'शान्ति शान्ति' है राग
बहुत भ्रामक, बिलकुल निस्सार;
मगर जो करके श्रम दिन-रात
न पाते आटा भी भरपेट,
व्यवस्था परिवर्तन के हेतु
क्रान्ति है उनको ही हुंकार।

पचानवे

न जब तक बजता रण का शंख,
दबा रहता शोषित निरुपाय,
सहे जाता है अत्याचार,
भले वह सूख सूख मर जाय ;
शान्त रह रक्त चूसती जोंक,
न शोषक कभी चाहता क्षोभ,
शान्ति है निष्क्रियता का काल
पनपता है जिसमें अन्याय ।

छियानवे

क्रान्ति का जिस क्षण बजता शंख
काँप उठते हैं महल विशाल,
दहल उठतीं जर्जर प्राचीर,
जाग उठते निर्मम कंकाल,
तड़क उठते हैं कारागार,
भड़क उठता भीषण प्रतिशोध,
न्याय का क्रूर देवता और
बैठ जाता निज तुला संभाल ।
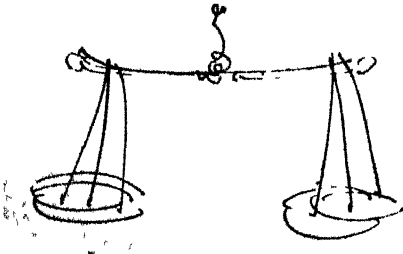
सतानवे

देख कर मैं तो हूँ हैरान
कि कैसे खा पाता इन्सान
दूध, मक्खन, अंगूर, अनार
एक दम बन बेशर्म, अजान,
करोड़ों ,जब भूखे कंगाल
सिकुड सोते हैं आधे पेट !
कि जैसे वह तो है भगवान,
और ये सब के सब बेजान।
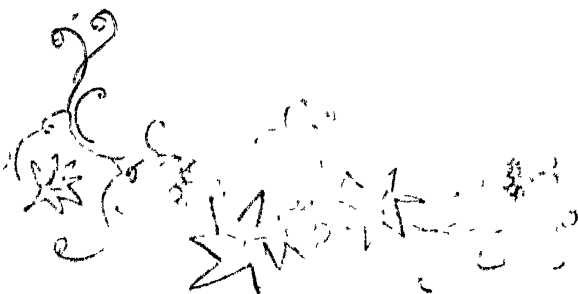
अठानवे

अरे, हम सबका है यह विश्व,
एक से हम इसकी सन्तान;
हमारी यह साँझी सम्पत्ति,
और सबका अधिकार समान;
न हमको मिलती रोटी-दाल,
और तुम खाते मक्खन-दूध;
हमीं हैं या तो पशु जड़-बुद्धि
और या तुम्हीं नहीं इन्सान।

निन्यानवे

स्वयं रह लूंगा आधे पेट,
मगर भूखे बच्चे की चीख
न सह पाऊँगा, हूँ कमज़ोर;
मुझे लानत, माँगू जो भीख;
न्याय मुझको देता अधिकार—
छीन लूं सजा तुम्हारा थाल;
भूख का होता कैसा डंक,
ज़रा तुम भी तो पाओ सीख।
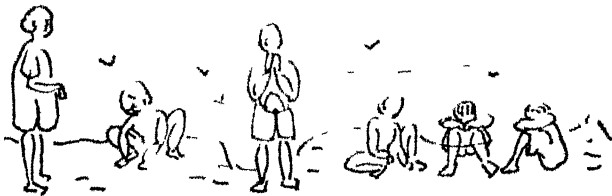
सौ

सहा हमने इतने दिन कष्ट,
रहे तुम करते भोग-विलास;
हमारी क्षुधा, वेदना, रोग
न देखे तक तुमने आ पास;
और अब आज हमारी चाह—
कि हम देखें मक्खन का स्वाद,
तुम्हें भी रूखी रोटी-दाल
पचा सकने का हो अभ्यास।
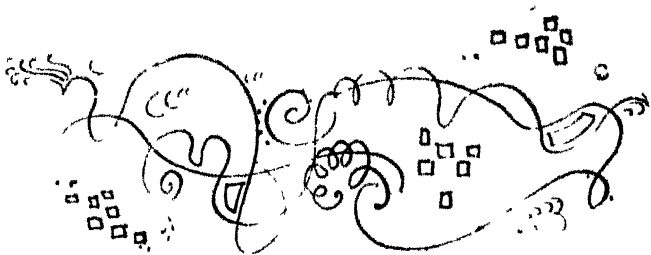
एक सौ

वही मेरी पूजा के
जिन्होंने रखने को निज अ
मार दी रोटी को भी ल
न घटने दी तिल भर भी श
भूख में, दुख में; सकल अ
न उनको बना सके कुछ दी
बढ़ी ज्यों ज्यों कष्टों की अ
स्वर्ण से वे निखरे द्युतिमा
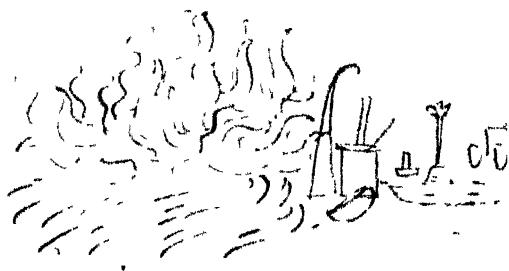
एक सौ दो

नहीं मुझको इसमें आपत्ति,
क्षुधित मानव यदि हो निरुपाय
बचाने को जीवन निस्तेज
रोटियों के बदले बिक जाय;
मुझे तो उन्हें देख कर ग्लानि
कि जो बिकते मक्खन के मोल,
जिन्हें दे कर सुख भोग-विलास
कि चाहे जो खरीद ले जाय।
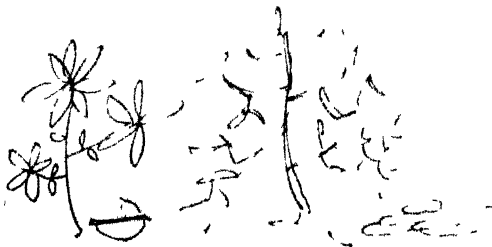
एक सौ तीन

किसी को दुर्बल पा बलवान
करेगा उस पर अत्याचार,
बहुत ही स्वाभाविक यह बात;
मुझे इस पर आश्चर्य अपार
कि बाकी दुर्बल दर्शक लोग
सबल के चट हो जायें साथ,
न रोकें उसके निर्मम हाथ,
और वह करता जाये वार।

एक सौ चार

अबलता का है यह अभिशाप—
तेज यह लेती नर का छीन;
सबल की उच्छृंखलता देख
अबल बन जाता अतिशय दीन;
छोड़ दुर्बल साथी का साथ
बली का दुर्बल बनता दास;
बनाता उसको अधिक सशक्त,
और निज को मर्यादा-हीन।

एक सौ पाँच
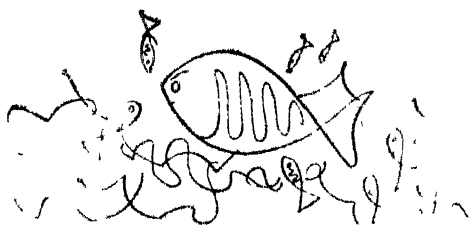
किसी को अनुचित पिटते देख
न क्यों चट तेरे उठते हाथ
कि अन्यायी को रोकें शीघ्र,
और पीड़ित का दे कर साथ
न्याय-रक्षा में दें सहयोग;
अरे तू तो है परम सतेज;
सहायक असहायों का और
अनाथों का तू बन जा नाथ।

एक सौ छह

उचित या अनुचित अपना रीति
छीन जो लेता है अधिकार,
न फिर वह दुर्योधन की भांति
त्यागने को होता तैयार
तनिक भी बिना लड़े; उस काल
भले अर्जुन हो जाये मूढ़,
कहेगा कृष्ण किन्तु निःशंक
उठाने को रण के हथियार।
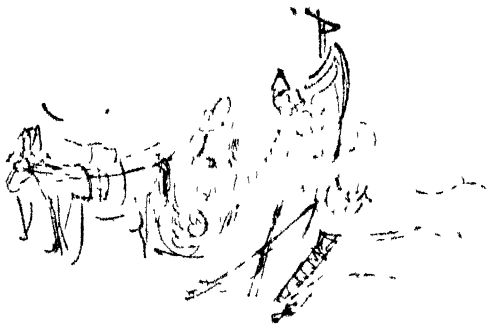
तुम्हें है इसका पश्चात्ताप,
दिया कर क्यों मुझको स्वाधीन;
चले बस, तो मेरा स्वातंत्र्य
अभी लो तुम पशुबल से छीन;
तुम्हारी क्रूर जकड़ से कण्ठ
सका मेरा इस कारण छूट
क्योंकि दी किसी और ने तान
तुम्हारी छाती पर संगीन।

एक सौ आठ

आज जागा है उद्धत पूर्व,
आज जागे है शोषित दीन,
इसीसे 'शान्ति' 'न्याय' ये शब्द
सीखने तुमको पड़े नवीन;
तुम्हारी कल तक थी यह नीति,
—भूलना नहीं बहुत आसान—
गले पर दुर्बल के रख लात
मिले जो भी कुछ, बस लो छीन।

विकट मेरा तेरा संघर्ष !
सफलता मेरी तेरी हार;
कहाँ लगने देगा निर्विघ्न
अरे तू मेरा बेड़ा पार !
चले बस तेरा, तो निःशंक
डुबो दे तू मुझको मँझधार;
किन्तु वे बली और ही हाथ
मुझे जो देंगे पार उतार।
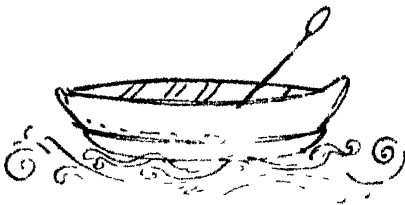
एक औ दस

रहा पिंजड़े में दसियों साल
छुटा सहसा देखा है बाघ ?
सपेरे के चंगुल से क्रूर
निकल भागा देखा है नाग ?
न देखा हो, लो हमको देख;
बढ़ाना अब न कदम इस ओर;
अगर इस बार हुई मुठभेड़
न तुम बचने पाओगे भाग।
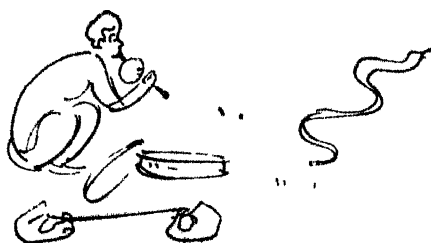
एक सौ ग्यारह

रहे करते सरकस के खेल—
हाय, हम भी थे कैसे शेर !
तुम्हारे कोड़ों की फटकार
रहे सहते हम कितनी देर !
आज खुल गई हमारी आँख,
गया हो सिर पर भूत सवार;
जरा देखें तो अब किस भाँति
तुम्हारा चल पाता अंधेर !

एक सौ बारह

हमारा था वह अपना दोष,
रहे रचते हम ऐसे स्वाँग,
बिना बल बस हिम्मत के ज़ोर
सके तुम मर्यादाएँ लांघ;
अभी तुमने है सुनी दहाड़,
सुनी तुमने विषमय फुफकार;
अगर पड़ गई हमारी चोट
न पाओगे पानी भी माँग।

एक सो तेरह

करूँ श्रम से अर्जित धन धान्य
और तुम ले जाओ सब लूट;
नहीं रे अब मैं इतना मूढ़
कि दे दूँ तुमको ऐसो छूट ;
तुम्हें भी जीवित रहने हेतु
बहाना होगा अपना स्वेद ;
उटा है जाग श्रमिक का भाग्य,
गई किस्मत शोषक की फूट ।

एक सौ चौदह

तुम्हारी भोली सूरत देख
किया हमने स्वागत - सत्कार;
मगर तुम निकले नरपशु हिंस्र,
निरे बर्बर डाकू, बटमार ;
तनिक सा देख हमें असतर्क
दिया निष्ठुर बन्धन में बाँध ;
और करने को स्वयं विलास
किया मनमाना अत्याचार।

एक सौ पन्द्रह

किया तुमने मुझको बरबाद,
शत्रु सा सदा किया व्यवहार ;
और अब धरती पर रख शीश
मानते मेरे आगे हार ;
त्याग कर न्याय हेतु हठ और
छोड़ कर 'बदले का अधिकार
क्षमा तुमको कर सकता, किन्तु
नहीं कर सकता तुमको प्यार ।

एक सौ सोलह

चाहिए यद्यपि होना, किन्तु
नहीं है मुझको तुमसे वैर;
विश्व है यह अत्यन्त विशाल,
मनाओ, जाओ, अपनी खैर;
मुबारक तुम्हें तुम्हारी चाल,
मुझे रहने दो मेरे हाल;
न होगा कोई मुझ सा हिंस्र
इधर जो बढ़े तुम्हारे पैर।

एक सा गगन

छीन कर मेरे मुख का ग्रास,
तान कर सिर ऊपर तलवार
मुझे कहते रहने को शान्त;
शान्ति से तुमको सच्चा प्यार!
और मैं उपद्रवी शैतान,
क्योंकि रह भूखा आधे पेट,
तुम्हारा आजीवन बन दास
न जीने को बिलकुल तैयार।
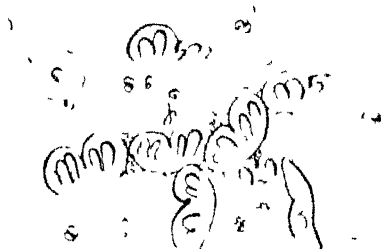
एक सौ अठारह

अहिंसा शान्ति काल का धर्म—
एक से सब जीवों में प्राण
किसी को दुख देना है पाप—
सदा यह लेकिन नही प्रमाण;
एक क्षण आता, जब बस शक्ति—
—भयंकर, क्रूर, सुहिंसक शक्ति—
शोषकों के चंगुल में ग्रस्त
शोषितों का कर सकती त्राण।

एक सौ उन्नीस

अरे, यह गला सड़ा संसार
कि जिसमें नहीं नाम को न्याय,
गरजते फिरते जिसमें बाघ,
सतत आतंकित जिसमें गाय,
जहाँ बल का अनुयायी धर्म,
जहाँ धन को अनुगामी नीति,
अगर कल होने को हो नष्ट,
खुशी से आज, अभी हो जाय।

एक सौ बीस

मनुज का ऐसा मूढ़ स्वभाव,
पुरातन से उसको अति प्यार;
पुरातन, पर, होकर निर्जीव
एक दिन बन जाता है भार
प्रगति-पथ-रोधक; मैं कटिबद्ध;
न होगा मुझे तनिक संकोच
सृजन नूतन का करने हेतु
पुरातन का करते संहार।

एक सौ इक्कीस

अगर तुझको है सचमुच चाह—
लोकहित हो तेरा उद्योग;
छोड़ दे ठाठ-बाट, दिखलाव,
पाल मत राग-रंग के रोग;
अगर निज श्रम का लाभ समस्त
भोग ले तू, क्या होगा दान ?
त्याग है संभव केवल जब कि
उपार्जन से कम हो उपभोग।
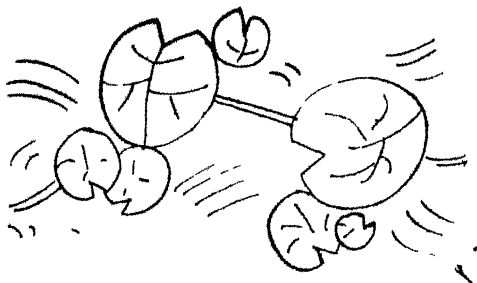
एक सौ बाईस

सृष्टि के आदिकाल से नित्य
रहा चल जड़-चेतन संग्राम;
अनल, जल और अनिल मिल साथ
सताते चेतन को अविराम;
रहा है पर मानव भी जूझ
सृष्टि के जड़ तत्वों के साथ;
विजय है बस अब दो पग दूर,
मिलेगा फिर सुखमय विश्राम।

धूल ही थी जिनका परिधान,
भूख ही थी जिनका आहार,
मिले उन कंगालों को आज
चबाने को टुकड़े दो चार;
नहीं रे यह मामूली बात!
रहा है ले यह करवट भाग्य;
खुलेंगे अब अन्धों के नेत्र,
सँभालेंगे मुर्दे तलवार।

एक सौ चौबीस

किसी दिन थे ऊसर मैदान,
वहाँ अब लहराते है खेत;
खिले रंगीन सुगन्धित फूल
जहाँ पर कल उड़ती थी रेत;
चढ़ा कंकालों पर कुछ मांस,
दृगों में आई कुछ-कुछ ज्योति,
लगे लगने मानव से आज
दीखते थे जो कल तक प्रेत।

तान कर अपनी लाल कमान
छोड़ता पूर्व सुनहले तीर;
और गिरती पश्चिम की टूट
अँधेरे की काली प्राचीर;
रहा है ढह शोषण का दुर्ग,
छिपाने को मुँह आकुल पाप;
रही है कड़ी कड़ी कर टूट
जगत् के पैरों की जंजीर।
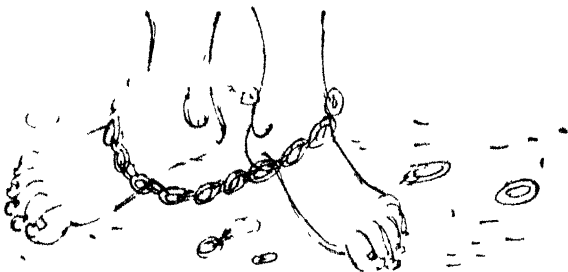
एक सौ छब्बीस

मुझे सुन्दर लगता है शौर्य,
लक्ष्य की ओर उमँगता तीर,
नाचती बिजली सी तलवार,
शत्रु पर बर्छा ताने वीर,
झपटता हुआ क्रुद्ध मृगराज,
खगों पर प्रबल टूटता बाज़,
मुझे सुन्दर लगती है जीत,
पाप की ध्वंसमान प्राचीर।

एक सौ सत्ताईस

जगत् में ऐसा प्राणी कौन
कि जिसको सुख हो सदा समान ?
नियति के प्यारों को भी देख
पड़े हैं सहने कष्ट महान;
दुखी है वह जो जग में प्राप्त
सुखों को चट जाता है भूल;
सुखी है वही जगत् में एक
न जिसको अपने दुख का ध्यान ।
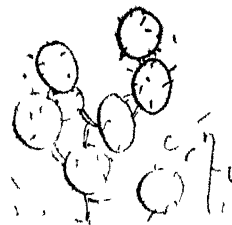
एक सौ अट्ठाईस

बनाकर जीवन का ध्रुव लक्ष्य
किया तूने सोत्साह प्रयाण;
उसे अब पूरा करने हेतु
पड़ें यदि देने, दे दे प्राण;
सफलता की आशा से शून्य
मनुज है बस धरती का बोझ;
लक्ष्य जब कोई पाये वेध
बाण का तभी सफल निर्माण।

एक सौ उनतीस

खिला है लाल कमल नभ तोर,
हुआ है जग में स्वर्ण-विहान,
रहे हैं उड़ किरणों के बाण,
गगन मंडल को कर छविमान;
रहे हैं खुल सोयों के नेत्र,
और चिर दलित उठाते शीश;
लगे हैं होने सपने सत्य,
भरूँगा अब मैं नई उड़ान।

एक सौ तीस

पसीने से तर मेरा भाल,
रही है आ अब मंज़िल पास;
दृगों में मेरे आशा-ज्योति,
अधर युग पर मेरे उल्लास,
हृदय में मेरे अनुपम तृप्ति,
सफलता पर अपनी सन्तोष;
मुझे अपने श्रम पर अभिमान,
मुझे अपने बल पर विश्वास !

एक सौ इकत्तीस

मुझे देने हैं टीले काट,
मुझे देने हैं गड्ढे पाट,
विषमताएं कर सारी दूर
बनाना जग को स्वच्छ सपाट;
पसीने से तर हो हर भाल,
हथेली हो हर एक कठोर,
भरा हो और उदर हर एक,
यही है मेरा स्वप्न विराट।
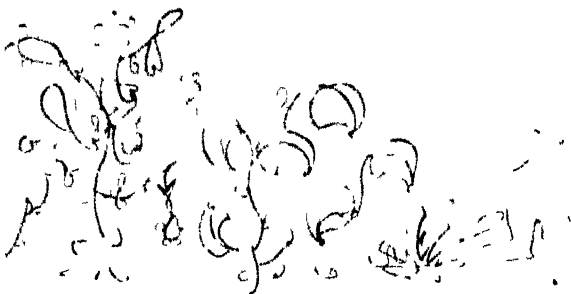
एक सौ बत्तीस

बढ़ा चल एक बनाकर लक्ष्य,
न होने दे पद गति को मन्द;
न कर बाधाओं की परवाह,
न तुझको राह मिलेगी बन्द;
किसी भी लक्ष्य प्राप्ति के हेतु
न कुछ अति कष्ट, न अति बलिदान;
न मानव के हित कोई और
सफलता से बढ़ कर आनन्द।

एक सौ तैंतीस

अरे ये महल, भोग, ऐश्वर्य
तुच्छ हैं; क्षुद्र सभी आराम;
अयोध्या का सिंहासन छोड़
बने थे बन-बन-वासी राम
निजेच्छा से सहने को कष्ट;
साधना-पथ है कठिन-कठोर;
नहीं है सुख जीवन का लक्ष्य,
लक्ष्य है कुछ कर जाना काम।

एक सौ चौंतीस

चलो बस आगे कर दो कूच,
करो मत ज्यादा सोच-विचार;
न अपनी त्रुटि रहने दो लेश,
भले फिर विजय मिले या हार;
विफलता के भय का क्या प्रश्न ?
समझ रक्खो यह पक्की बात,
वहीं पर बन जायेगा स्वर्ग
जहाँ होंगे हम देव हज़ार।

विराज की अन्य काव्य रचनाएं

वसंत के फूल

जीवन के शाश्वत सत्यो के सम्बन्ध में सरल, सुबोध, किन्तु उत्कृष्ट कवित्व की रुबाइयाँ। हिन्दी काव्य में सुनिश्चित रूप से एक नया और महत्त्वपूर्ण कदम। कुछ सम्मतियाँ देखिये :

"मैं श्री विराज के प्रयोगो को महत्व देता हूँ ; केवल इसलिए नही कि उन्होंने रुबाइयो मे विचारों की एकता रखी है और उसे स्पष्टता से व्यक्त किया है, बल्कि इसलिए भी कि अपने विचारों मे वे आधुनिक वैज्ञानिक युग का सन्देह और कौतूहल तथा आज के मानव का धैर्य तथा स्वाभिमान मुखरित करते हैं। मैं उत्तरोत्तर उनकी सफलता का अभिलाषी हूँ।"

—बच्चन

"जीवन के व्यापक कार्य-व्यापारों की अनुभूतियों से उनका हृदय इतना भरा हुआ है कि अभिव्यक्तिया बनकर अनुभूतिया छलक उठती है और विराज उन्हें रुबाई समझकर कागज़ पर उतार लिया करते है।··· सभी रुबाइयाँ अन्तर को छूकर निकली हैं।···कवि के हृदय में भावनाओं के अनन्त ज्वारभाटे उठ रहे हैं और भावधाराएं आपस में टकराती हैं और व्याकुल होकर बांध की सीमा तोड़कर फूट पड़ती हैं।"

—सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग

"चतुष्पद प्राण को छूने वाले हैं। बहती सरिता की भांति मुक्त, स्वतन्त्र और आकर्षक ये चतुष्पद सुख के साथ-साथ अन्तर्दृष्टि भी प्रदान करते हैं। अनुभूति की गहराई और तीव्रता उनमे है।"

—जीवन साहित्य में श्री विष्णु प्रभाकर

बढ़िया कागज़, कलापूर्ण दुरंगी छपाई।

—कीमत चार रुपये

हर की पैड़ी

सरस शृंगारमय खंडकाव्य। प्रकृति और आकृति सौन्दर्य दोनों का ऐसा मनोहारी अकन इस काव्य में हुआ है कि पाठक पढ़ते-पढते आत्म-विभोर हो जाता है। सुरुचिपूर्ण शृंगार का ऐसा चित्रण खडीबोली काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है। इसके सम्बन्ध मे भारत के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'माडर्न रिव्यू' की सम्मति देखिये :

"हरिद्वार में गंगा के पावन तट पर खडा होकर कवि अपने सम्मुख फैले रंग-बिरगे दृश्य को देखता है और उसकी पृष्ठभूमि मे विद्यमान प्राकृतिक सौन्दर्य और अग्रभूमि में मानवों की, विशेष रूप से नारियों की रूपसज्जा से मुग्ध खड़ा रह जाता है। उसके शब्दचित्रो में प्रफुल्लता भी है और सत्य का आभास भी। उसके वर्णन में, या कहा जाय किप्रेम व्यंजना में स्वस्थचित्तता और अनुभूतिशीलता, दोनों ही हैं। उसकी शैली मे गंगा का-सा प्रवाह है।"

सरस और स्वस्थ शृंगार की यह मोहक रचना बढ़िया कागज पर कलापूर्ण ढंग से छपी है। आकर्षक तिरगा मुखपृष्ठ। —कीमत चार रुपये

रतिविलाप

यह गीत नाट्य महाकवि कालिदास के कुमार-सम्भव के मदन-दहन की घटना को लेकर लिखा गया है। अपनी पहली पत्नी सती के प्राण त्याग देने के बाद महादेव तपस्या में लग जाते हैं। तारकासुर के वध के लिए देवता लोग महादेव से एक पुत्र उत्पन्न करवाना चाहते हैं। पर्वत-राज हिमालय की पुत्री पार्वती उनकी पत्नी बनने के उपयुक्त है। इन्द्र के आदेश से कामदेव महादेव को विवाह के लिए प्रेरित करना चाहता है, पर महादेव उसे जलाकर राख कर देते हैं। क्यों? इस सारी समस्या का नया मनोवैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत किया गया है।

आकर्षक कलापूर्ण तिरंगा मुखपृष्ठ। —कीमत डेढ़ रुपया